और अतर्क्य मान लेने के कारण मुक्त व्यक्तिगत चिन्तन के लिए इसमें अवकाश नहीं रह गया।

थियोसोफी (१८७५)

थियोसोफिकल आन्दोलन भारतीय धार्मिक परम्परा पर ही आधारित था। थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना मदाम ब्लावत्स्की और कर्नल ओल्काट द्वारा न्यूयार्क में सन् १८७५ में हुई। सोसाइटी के संस्थापक जनवरी १८७९ में भारतवर्ष पहुँचे। १८८२ ई० में अड्यार (मद्रास) में इसकी शाखा खोल दी गई। श्रीमती एनी बेसेंट सन् १८८८ में इस संस्था की इंग्लैण्ड शाखा से सम्बद्ध हो गईं। १८९३ में वे भारत आईं और सोसाइटी के विकास में तन-मन से जुट गईं। उन्होंने घोषित किया कि "मैं अपने विगत के संस्कारों के कारण हृदय से तुम्हारे साथ हूँ।" अपने गत्यात्मक व्यक्तित्व और असाधारण वक्तृत्व शक्ति के कारण उन्होंने अनेक शिक्षित भारतीयों को आकृष्ट किया।

श्रीमती बेसेंट ने समस्त देश का दौरा किया और हिन्दू धर्म के आध्यात्मिकता के पक्ष में ओजस्वी भाषण दिए। थियोसोफी में उन्होंने अपने आदर्शों को मूर्त रूप देने के लिए शिक्षा संस्थाएँ भी खोलीं। बनारस का सेंट्रल हिन्दू कालेज इसी तरह का कालेज था। इस आन्दोलन के कारण उदारता और समन्वयवादी दृष्टि का विकास हुआ। किन्तु यह बहुत कुछ उच्च वर्ग तक ही सीमित रहा।

प्रतिक्रियाएँ

बंगाल, महाराष्ट्र और उत्तर भारत में नए धार्मिक आन्दोलनों के विरुद्ध पुनरुत्थानवादी प्रतिक्रियाएँ आरम्भ हुईं। बंगाल में राधाकान्त देव ने राजा राममोहन राय के ब्रह्मसमाज के विरोध में धर्मसभा (१८३०) की स्थापना की। पर '५७ के विद्रोह तक वह समाज का प्रभाव कम नहीं कर सकी। किन्तु '५७ के विद्रोह के बाद सुधारवादी रेडिकल्स का जोर कम हो गया और पुरातनवादी मनोवृत्तियाँ उभरकर सामने आईं।

१८५८ के अनन्तर बंगाल में दो प्रवृत्तियों का ज्यादा जोर था—राष्ट्रीयतावादी और स्वच्छन्दतावादी। दोनों के मूल में वैयक्तिकता, अतीत के प्रति गौरव का भाव, विदेशी सत्ता के विरुद्ध आक्रोश, गाँव की बढ़ती हुई गरीबी के प्रति सहानुभूति, स्वतन्त्रता और समानता के प्रति आग्रह आदि क्रियाशील थे।

अतीत के गौरव के प्रति जाग्रति फैलाने का श्रेय उन पुरातत्त्ववेत्ताओं और पुरालेखविदों के मुद्राशास्त्रियों को है जिन्होंने विस्मृति के गर्भ में विलीन भारतीय साहित्य, कला, ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, वास्तुकला आदि का पुनरुद्धार किया। इसके फलस्वरूप संसार में भारत का गौरव बढ़ा और इस देश के निवासियों में आत्म-सम्मान का भाव जाग उठा।

अब पाश्चात्य संस्कृति के सामने डटकर खड़ा हुआ जा सकता था। नवीन हिन्दूवाद का जन्म हुआ। इसमें मुख्यतः दो दल थे, एक प्रत्येक प्रकार के सुधार का विरोधी था, दूसरा यथास्थान नए विचारों के सन्निवेश का पक्षपाती था। किन्तु मुख्य धारा में यह किसी प्रकार के मौलिक परिवर्तन का आकांक्षी नहीं था। बंकिमचन्द्र चैटर्जी ऐसे ही व्यक्ति थे। वे गीता

के निष्काम कर्मयोग के हिमायती थे। उन्होंने धर्मतत्त्व पर दो किताबें लिखीं, कृष्ण के सम्बन्ध में कृष्ण-चरित्र ग्रन्थ लिखा।

वे धर्म सुधारकों की भाँति टुकड़ों-टुकड़ों में समाज सुधार के हिमायती नहीं थे। उनका विश्वास था कि धर्म और भौतिकता के समग्र पुनर्जागरण में ही समाज-सुधार समाविष्ट हो जाता है। बंकिम के विचारों और उपन्यासों में देशप्रेम का स्थान बहुत ऊँचा था। वे देशप्रेम को धर्म और धर्म को देशप्रेम कहते थे।

महाराष्ट्र की स्थिति बंगाल से भिन्न थी। एक तो वह अंग्रेजों के अधिकार में बंगाल से ६० वर्ष पीछे आया और दूसरे पेशवा राज्य की परिसमाप्ति का दर्द उसे बना हुआ था। अपनी परंपराओं के प्रति उसे अधिक अनुराग था। महाराष्ट्र ने देश की गरीबी, भुखमरी आदि का पूरा दायित्व अंग्रेजी राज्य पर डाल दिया। चिपलूणकर के निबन्धों में देश के पराभव का एकमात्र जिम्मेवार विदेशी शासन को ठहराया गया। तिलक ने रानाडे के सुधारों का विरोध किया। उनकी दृष्टि में इन सुधारों से समाज विभक्त होगा और इससे राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने में बाधा पहुँचेगी। जनता को एक करने के लिए उन्होंने गणेश पूजा की शुरुआत की। उत्तर भारत में आर्यसमाज के विरोध में सनातन धर्मावलम्बियों ने अपना स्वर बुलंद किया। इन विरोधी स्वरों के कारण सुधार का कार्य तो मन्द पड़ा किन्तु राष्ट्रीयता को और अधिक बल मिला।

मध्यकालीनता से आधुनिकता की ओर

यद्यपि अंग्रेजों ने इस देश में नयी अर्थ-व्यवस्था, औद्योगिकता, संचार-सुविधा, प्रेस आदि को अपने निजी स्वार्थों के लिए स्थापित किया फिर भी इससे इस देश का हित हुआ। एक स्थिर व्यवस्था से छूटकर देश को नूतन गत्यात्मकता का अनुभव हुआ। परम्पराएँ टूटने लगीं। नए परिवेश में, ऐतिहासिक माँग के फलस्वरूप, लोग अपने को नए ढंग से ढालने लगे। आधुनिक काल में जिस पुनर्जागरण का उल्लेख किया जाता है उसके मूल में भी ये बदली हुई परिस्थितियाँ ही थीं।

इसके पूर्व धर्म मुख्यतः पारलौकिक आकांक्षाओं से सम्बद्ध था, किन्तु आधुनिक काल में वह इहलौकिक आकांक्षाओं का भी वाहक बना। पूँजीवादी समाज की भौतिकता के फलस्वरूप धर्म-सुधारकों को इस तरह का बाना धारण करना पड़ा था या कहिए कि इसके लिए उन्हें बाध्य होना पड़ा।

भारतीय धर्म और संस्कृति के सम्बन्ध में अंग्रेज प्रशासकों को ईसाई मिशनरियों के आक्रामक रुख के कारण धर्म-सुधारकों को धारदार मार्ग से गुजरना आवश्यक हो गया। एक ओर उन्हें विदेशियों के समक्ष अपनी धर्म-संस्कृति की वकालत करनी पड़ी और दूसरी ओर देशवासियों के सामने धर्म का नया अर्थापन करना पड़ा। इस प्रकार हर बात को तर्क-संगत (रिशनल) बनाने की दिशा में जो पहल की गई वह बहुत फलदायक सिद्ध हुई।

इस संक्रान्तिकाल में धर्म का पल्ला पकड़ना बहुत जरूरी था, क्योंकि धर्म अनिवार्यतः समाज-सुधार के साथ जुड़ा हुआ था। पुराणपन्थी और सुधारक दोनों ने अपने-अपने मत के

प्रचारार्थ धर्मशास्त्रों की शरण ली। इस युग में राजा राममोहन राय अकेले व्यक्ति थे जिन्हें शुद्ध बुद्धिवादी कहा जा सकता है। सती प्रथा को उन्मूलित करने के लिए उन्हें भी धर्मशास्त्रों की गवाही की आवश्यकता हुई। विद्यासागर ने सिद्ध किया कि धर्मशास्त्रों में वैधव्य का कोई विधान नहीं है। दयानन्द सरस्वती सामाजिक सुधारों को वैधता देने के लिए वेदों की ओर उन्मुख हुए और उन्होंने अपने मत के पुष्ट्यर्थ वेदों का नया अर्थ भी किया। धीरे-धीरे तर्क की संगति पर विशेष बल दिया जाने लगा। इससे रूढ़ियों को उच्छिन्न करने में सुविधा हुई।

परम्परावादी और धर्मसुधारक दोनों ही अतीत के गौरव को जागृत करने में सफल हुए। इससे भारतीयों को आत्म-सम्मान का बोध हुआ और बराबरी के स्तर पर पश्चिम का सामना करने तथा स्वतन्त्रता की माँग करने का आत्म-विश्वास प्राप्त हुआ। यद्यपि वे परम्परावादी धर्म-सुधार में बहुत आस्था नहीं रखते थे फिर भी राष्ट्रीयता पर उन्होंने अत्यधिक बल दिया। उनका कहना था कि राष्ट्रीयता में सभी सुधार समाविष्ट हैं।

वस्तुतः जिन्हें परम्परावादी कहा जाता है और जिस अर्थ में कहा जाता है उस अर्थ में वे परम्परावादी नहीं थे। रैडिकल भी पूरे तौर पर रैडिकल नहीं थे। परम्परा के नैरन्तर्य को देखते हुए समस्या केवल चुनाव को लेकर खड़ी होती है। परम्परा की निरंतरता में कुछ अंश नए युग के प्रसंग में सार्थक होते हैं और कुछ अर्थहीन। परम्परा की प्रासंगिकता किस तत्व में है और किस में नहीं—इसका विवेचन और चुनाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तथाकथित परम्परावादी और रैडिकल दोनों के मूलभूत दृष्टिकोण में कोई अन्तर नहीं था, फिर भी दोनों के अभिगम अलग-अलग थे। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली में दोनों ने विश्वास व्यक्त किया और नई शिक्षा-संस्थाएँ खोलीं। शिक्षा-संस्थाएँ तो पहले भी थीं पर इन शिक्षा-संस्थाओं का रूप एकदम बदल गया। इनका उद्देश्य पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान से परिचित कराना था।

नए अर्थ-तन्त्र, शिक्षा-प्रणाली, संचार-जाल आदि के कारण पश्चिमीकरण की प्रक्रिया का आरम्भ होता है। बहुत से लोग इसे पश्चिमीकरण न कहकर आधुनिकीकरण कहते हैं। पश्चिमीकरण शब्द का प्रयोग बहुत संगत नहीं है क्योंकि स्वयं पश्चिम को बहुत-सी बातें पूर्व से मालूम हुई हैं जैसे मुद्रण-यन्त्र का आविष्कार सबसे पहले चीन देश में हुआ। पश्चिमीकरण से भ्रम होता कि पश्चिमी रीति-नीति, आचार-व्यवहार, वेश-भूषा आदि का अंधानुकरण। आधुनिकीकरण एक दृष्टिकोण है जो वैज्ञानिक विचारधारा से बनता है और वह मूलतः इस लोक से ही सम्बद्ध होता है।

एम० एन० श्रीनिवास ने 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन' पुस्तक में लिखा है—"भारतीयों को केवल स्याहीसोख का दर्जा देना तो स्पष्ट ही वाहियात है। यह कहना ठीक नहीं कि जिस किसी बात के संपर्क में वे आए वह सब उन्होंने आत्मसात् किया उसे दूसरों तक संप्रेषित कर दिया—यद्यपि कुछ एक व्यक्तियों के साथ निस्संदेह ऐसा हुआ। वास्तव में पश्चिम से कुछ बातें ग्रहण की गईं और ग्रहण की गईं बातों में भी रूपान्तर हुआ।"

रूपान्तरण की इस प्रक्रिया में पश्चिमी विचारकों में मिल, बेंथम, काम्ते आदि से बहुत कुछ प्रेरणा ली गई। किन्तु इसके लिए शास्त्रों के साथ-साथ मध्यकालीन संतों की बानियों का भी सहारा लिया गया। छूआछूत, जाति-प्रथा, स्त्री-पुरुष के भेद आदि का विरोध और

स्वतन्त्रता-समानता आदि का समर्थन इस तथ्य का सूचक है कि इस समय तक नवीन मानवतावाद का आविर्भाव हो चुका था।

संस्कृत के शास्त्रों और मध्यकालीन संतों-भक्तों की बानियों में भी एक प्रकार का मानवतावाद मिलता है पर वह मानवतावाद सर्वत्र ईश्वरवाद से संदर्भित है। कबीर हिन्दू-मुसलमान के भेद पर यह कहकर प्रहार करते हैं कि वे सभी ईश्वर की सन्तान हैं। कर्मकाण्ड की निन्दा वे इसलिए करते हैं कि वह ईश्वर प्राप्ति में बाधक है। भक्तों में तुलसी की स्पष्टोक्ति है 'नाते सबै रामके मानियत।' पर आधुनिक युग में मनुष्य-मनुष्य की समता, स्वतन्त्रता आदि को सामाजिक न्याय के आधार पर समर्थित किया गया।

पर इन आन्दोलनों में से अधिकांश में एक अन्तर्विरोध दिखाई पड़ता है। इनके आदर्शों और व्यवहारों में सर्वत्र एकरूपता नहीं मिलती। टैगोर परिवार ब्राह्म था। ब्रह्मसमाज में मूर्तिपूजा के लिए कोई स्थान नहीं है पर टैगोर परिवार खूब धूमधाम के साथ दुर्गोत्सव मनाता था। आर्यसमाज में वर्णव्यवस्था जन्मना नहीं कर्मणा मानी जाती थी। लेकिन आर्य-समाजियों में ऐसे बहुत कम लोग मिलेंगे जो जाति के बाहर विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने में संकोच का अनुभव न करते रहे हों। दूसरा अन्तर्विरोध यह था कि राजा राम मोहन राय, रानाडे आदि बहुत से लोग अंग्रेजी राज्य को देश के लिए वरदान समझते थे लेकिन उनके दोहन, शोषण आदि का विरोध करते थे। समाज में एक ओर संस्कृतीकरण बढ़ रहा था दूसरी ओर लौकिकीकरण। इस अन्तर्विरोध से गुजर करके आधुनिक काल का स्वरूप निखरा।

संगीत, चित्र और साहित्य की नई स्थिति